24

भारतीय भाषाएँ: विकासशील समाज में पहचान का माध्यम

आपने यह अक्सर सुना होगा कि भारत विविधताओं से भरा देश है। यहाँ खान-पान, रीति-रिवाज़, पहनावे, भोजन, धर्म आदि में बहुत विविधता है। इसी तरह यहाँ भाषाओं में भी विविधता है। यहाँ अलग-अलग क्षेत्रों व समुदायों की अपनी अलग भाषा है और न जाने कितना समय गुज़र जाने के बाद भी ये भाषाएँ जीवित हैं। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि भाषा हमारी पहचान व अस्मिता से जुड़ी हुई है। यह लेख भारतीय भाषाओं के सन्दर्भ में भाषा व पहचान पर कुछ बातें करता है। यह बताता है कि हर छोटे से छोटा समुदाय अपनी भाषा को सजीव रखने का प्रयास करता है हालाँकि राष्ट्रीयता की बहस व विकास के दबाव के चलते यह मुश्किल हो जाता है व कम सदस्यों वाले भाषा समूह भी छोटे होते जाते हैं। भाषा के प्रति लगाव जकड़न के रूप में भी हो सकती है व खुले उदार स्वरूप में भी। लेख भारतीय भाषा परिवारों से परिचित करवाता है व भाषा के पहचान से रिश्ते व उससे उत्पन्न संघर्षों व अलगावों को भी उभारता है। हालाँकि अन्तःक्षेत्र व अन्तःसमूह संवाद में काफी आदान-प्रदान है किन्तु पहचान व अस्तित्व के संघर्ष के समय हर अन्तर महत्वपूर्ण हो जाता है। यानी भाषा व बोली का प्रयोग एक सूत्र में पिरोने व अन्य को दूर रखने के लिए भी किया जाता है ।

अमरीका बनाम भारत

भाषावैज्ञानिकों और जनगणना विशेषज्ञों का कहना है कि हालाँकि अल्पसंख्यक समुदाय अपनी पहचान बनाए रखने के लिए अपनी भाषा को सजीव रखने का भरसक प्रयास करता है, लेकिन वह शायद ही इसमें सफल होता है। इस मत की पुष्टि का साक्षात् उदाहरण है संयुक्त राज्य अमरीका जो यूरोप, एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमरीका से आए हुए विभिन्न समुदायों का देश है। यद्यपि इन समुदायों की अलग-अलग भाषाएँ और बोलियाँ थीं, किन्तु संयुक्त राज्य

अमरीका मुख्य रूप से एकभाषी देश है। यह सही है कि 1983 की अमरीकी जनगणना में यह कहा गया है कि उस देश में 83 विभिन्न बोलियाँ बोली जाती हैं किन्तु जहाँ तक ठोस आँकड़ों का प्रश्न है, सिर्फ निम्नलिखित भाषाओं के बोलने वालों का विवरण दिया गया है: स्पैनिश 1,46,00,000, चीनी 8,06,000, जापानी 7,01,000 कोरियन 3,54,000 और वियतनामी 2,61,000 (द गार्जियन, 24 जून 1984)। हालाँकि अमरीकी संविधान में किसी भाषा को राष्ट्र भाषा की संज्ञा नहीं दी गई है, लेकिन यह स्पष्ट रूप से लिख दिया गया है कि उसी व्यक्ति को अमरीकी नागरिकता दी जाएगी जो अँग्रेज़ी भाषा जानता है। हाल में कुछ चुनिन्दा नगरों के स्कूलों में कुछ गैर-अँग्रेज़ी भाषाओं को पढ़ाने की व्यवस्था की गई है, लेकिन अधिकांश स्कूलों में इस तरह की कोई व्यवस्था नहीं है। अधिकांश अप्रवासी अपने बच्चों को अपनी मातृभाषा सिखाने के लिए रविवारीय स्कूलों का सहारा लेते हैं, जो उनके सामुदायिक संगठनों या चर्च द्वारा चलाए जाते हैं। स्पष्ट है कि इस तरह की व्यवस्था अधिक दिनों तक कारगर ढंग से नहीं चल पाती है और तीसरी पीढ़ी के आते-आते अप्रवासी अमरीकी अपने बाप-दादाओं की भाषाएँ भूलने लगते हैं। जातीय चेतना के जागरण के चलते गैर-अँग्रेज़ी भाषाओं को स्कूलों में पढ़ाने की जो व्यवस्था अमरीका में की जा रही है, उससे राजनीतिज्ञों का एक बड़ा तबका नाराज़ है, जैसा कि सिनेटर वॉल्टर हडलस्टन के इस बयान से साफ है: "अगर हम हाल में अपनाए गए रास्ते पर चलते रहे तो मेरा विश्वास है कि हम अपनी उस एकता को, जिसे हमारी मानी हुई भाषा ने बना रखा है, अपूरणीय क्षति पहुँचाएँगे।"

हालाँकि संयुक्त राज्य अमरीका और भारत दोनों जनतांत्रिक देश हैं, भाषा के सन्दर्भ में देखने पर भारत की स्थिति अमरीका से बिलकुल भिन्न है। देश के बँटवारे व स्वतंत्रता प्राप्ति के समय और उसके बाद सिन्धी भाषी पाकिस्तान से भारत आए और देश के विभिन्न भागों में बस गए। इस बात के प्राय: 50 साल बीत गए हैं किन्तु अभी भी भारत में, 1981 की जनगणना के अनुसार, 20,44,389 सिन्धीभाषी हैं (जिसमें कच्छी भाषी भी शामिल हैं)। ये देश के नौ राज्यों और एक संघीय क्षेत्र में बिखरे हुए हैं। सिंह और मनोहरन (1993) के अनुसार यह भाषा 61 समुदायों के द्वारा बोली जाती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद दूसरा अप्रवासी समुदाय जो बड़ी संख्या में भारत में आया है, वह तिब्बतियों का है। 1981 की जनगणना के अनुसार, उनमें 63,431 ऐसे तिब्बती हैं जो भारतीय नागरिक हैं और इस भाषा का मातृभाषा के रूप में प्रयोग करते हैं। वे मुख्यत: अरुणाचल प्रदेश, दिल्ली और सिक्किम के निवासी हैं। (इस आँकड़े में तिब्बती शरणार्थी शामिल नहीं हैं)। अगर हम यह कहकर बात टाल दें कि ये तो तिब्बतियों की पहली या दूसरी पीढ़ी है और बाद की पीढ़ियाँ अपनी भाषा भूल जाएँगी तो यह गलत होगा क्योंकि हमारा इतिहास ऐसा नहीं बताता। पिछले 40 वर्षों में चीनियों का अप्रवास नहीं हुआ है, अर्थात् जो भी भारतीय चीनी नस्ल के हैं, वे कम से कम दूसरी या तीसरी पीढ़ी के हैं। फिर भी 1971 की जनगणना के अनुसार हमारे देश के 10,958 नागरिक चीनी भाषा को मातृभाषा के रूप में बोलते हैं। ये चीनी मुख्यत: पश्चिम बंगाल में रहते हैं। उसी प्रकार 10,504 भारतीय फारसी को अपनी भाषा मानते हैं। ये फारसी बोलने वाले हिमाचल प्रदेश, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश के निवासी हैं। 1971 की जनगणना के अनुसार पंजाब, जम्मू-कश्मीर और चण्डीगढ़ में रहने वाले 8,688 भारतीय नागरिक पश्तोभाषी हैं। 1981 की

जनगणना के अनुसार 28,116 भारतीय नागरिक अरबी-भाषी हैं। ये मुख्यत: आन्ध्र प्रदेश के निवासी हैं, पॉण्डीचेरी में रहने वाले 2,593 भारतीय फ्रेंच बोलते हैं। असम में रहने वाले 1,381 भारतीय नागरिकों ने यह दावा किया है कि उनकी कई मातृभाषायें हैं। उसी प्रकार अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह में रहने वाले 2,871 भारतीय नागरिक बर्मी को अपनी मातृभाषा मानते हैं। पश्चिम बंगाल के 62 भारतीय नागरिक अर्मेनियनभाषी हैं और दिल्ली नगर के 506 व्यक्ति हिब्रू को अपनी मातृभाषा मानते हैं। पॉण्डिचेरी के 13 भारतीय नागरिकों ने लाओशियन को अपनी मातृभाषा बताया है। इन सभी नागरिकों के पूर्वज काफी पहले भारत में आए थे। इनकी भाषाएँ जीवित हैं जो इस बात को प्रमाणित करती है कि भारतीय समाज उन भाषाओं को भी जीवित रखने के लिए प्रोत्साहित करता है जिनके बोलने वाले कम हैं। यही कारण है कि भारत के 2,02,440 ऐंग्लो इंडियनों ने बिना झिझक अँग्रेज़ी को अपनी मातृभाषा घोषित किया है। ऐसा नहीं कि ये तिब्बती, चीनी, फारसी, पश्तो, हिब्रू, अरबी या अर्मेनियन बोलने वाले भारतीय मूल की कोई भाषा नहीं बोलते। इनमें से अधिकांश कम से कम द्विभाषी हैं। दूसरे भाषाभाषियों से घिरे रहकर भी इन्होंने अपनी भाषा को जीवित रखा है क्योंकि ये इसे अपनी पहचान के लिए आवश्यक मानते हैं।

भाषा और पहचान

जिस प्रकार पहचान बनाए रखने के लिए अपेक्षाकृत नए अप्रवासी भारतीय अपने पूर्वजों की भाषा को सँजोए हैं, उसी प्रकार अन्य समुदाय के लोगों ने भी अपनी मातृभाषा को बचा रखा है। उदाहरण के लिए, तिब्बती-बर्मन समूह की एक भाषा बोडो को लें, जो 1981 की जनगणना के अनुसार असम, मेघालय और पश्चिम बंगाल में 28,619 लोगों द्वारा बोली जाती है। इसी ग्रुप की दो अन्य भाषाएँ हैं दोआरी (जो लगभग 9,103 लोगों द्वारा प्रयोग की जाती है) और करबी (मिकिर जो 12,600 द्वारा बोली की जाती है)। ये सभी भाषाएँ बोडो समुदाय के व्यक्ति अपने समुदाय के अन्तर्गत ही सम्पर्क के लिए प्रयोग में लाते हैं, दूसरे समुदायों से सम्पर्क सूत्र बनाए रखने के लिए ये अन्य भाषाओं का प्रयोग करते हैं।

नागा समुदाय के विभिन्न उपसमुदायों की पहचान अपनी-अपनी अलग भाषा से की जा सकती है। अंगामी, आओ, चक सांग, चांग, जेमा, कबुई, कुछ, खिमानगन, कोनयक, लोथा, माओ, मरम, मरिंग, फोम, पोचुरी, रेंगम, संगतम, सेमा, तांगखुल, यिमचुनगर और जेलियांग उपजातियों की भाषाएँ भी इन्हीं नामों की हैं (सिंह व मनोहरन)। पीपुल ऑफ इंडिया सर्वे में 21 नागा उपजातियों और उसकी 21 भाषाओं का उल्लेख है। भिन्न उपजातियाँ आपस में 'नागामीज' में बातें करती हैं जो असमिया भाषा को आधार बनाकर एक तरह की खिचड़ी भाषा है। प्राय: 16 उपसमुदायों के लोग इसका प्रयोग करते हैं। 13 उपसमुदाय हिन्दी का, चार असमिया या मैनी (मणिपुरी) का, चार अंगामी का, तीन कबुई का, दो कोनयन का और एक बांग्ला का प्रयोग अन्तर-उपसमुदाय संचार के लिए करते हैं। इस सर्वे के अनुसार, सभी उपजातियाँ कम से कम द्विभाषी हैं। 12 उपजातियों के लोग तीन भाषाओं का प्रयोग करते हैं और पाँच उपजातियों में मातृभाषा के अतिरिक्त चार भाषाओं का प्रयोग किया जाता है। याद रहे कि नागालैंड में प्रशासन और शिक्षा का माध्यम अँग्रेज़ी है और हिन्दी जानने वालों

की संख्या भी कम नहीं है। मैंने नागा जनजाति और उसकी उपजातियों की चर्चा विस्तार से इसलिए की है ताकि हम परिस्थिति की संश्लिष्टता और गतिशीलता को समझ सकें। ये सभी उपजातियाँ अपने आप पर और अपनी भाषा पर गर्व करती हैं और ऐसा समझती हैं कि अपनी पहचान के लिए भाषा को जीवन्त बनाए रखना आवश्यक है। जिन उपजातियों के लोग दूसरी उपजातियों से जितना अधिक मिलते-जुलते हैं, उनके बीच उतनी ही अधिक बहुभाषिकता है। इसके अतिरिक्त ये जनजातियाँ उस क्षेत्र के समतल क्षेत्र के रहने वालों से बातचीत के लिए नागामीज का प्रयोग करती हैं और उत्तरी पूर्वी भारत के बाहर के भारतीयों से बातचीत के लिए अँग्रेज़ी या हिन्दी का। संक्षिप्त में यों कहा जा सकता है कि नागा जनजाति की विभिन्न उपजातियों के लोग अपनी पहचान के लिए आपस में अपनी मातृभाषा का प्रयोग करते हैं। दूसरी उपजातियों से बातचीत के लिए उनकी भाषा का या नागामीज़ का प्रयोग करते हैं। अपने क्षेत्र से बाहर के लोगों से बातचीत के लिए हिन्दी या अँग्रेज़ी का प्रयोग करते हैं। एक औसत नागा व्यक्ति के लिए 'बाहरी व्यक्ति' का अर्थ है 'नागा जनजातियों के निवास-स्थान (नागालैंड और मणिपुर) से बाहर का व्यक्ति' चाहे वह बिहार का हो या पंजाब का या इंग्लैंड का।

भाषा के आधार पर झगड़े

गोआ में कोंकणी भाषी व मराठी भाषी आपस में झगड़ते रहते हैं। यह सही है कि भाषा के आधार पर कई बार झगड़े होते हैं। अपने समुदाय की पहचान को सशक्त करने के लिए इन्सान चाहता है कि उसकी भाषा का विस्तार हो और आसपास रहने वाले दूसरे भाषी लोग भी वही भाषा बोलें जो कि उसकी भाषा है। इसका एक ताज़ा उदाहरण अभी कुछ समय पहले देखने को मिला जब मुंबई में विभिन्न भाषा-भाषी लोगों को जबरन मराठी भाषा बोलने या सीखने को बाध्य किया गया। लेकिन यह विचारणीय प्रश्न है कि अपनी भाषा के प्रति यह संकीर्णता कहाँ तक उचित है। आखिरकार बहुभाषिकता हमारी धरोहर है जिस पर हमें गर्व होना चाहिए।

अगर एक तरफ नागा जनजाति की भाषा सम्बन्धी उदारता उन्हें बहुभाषी बना देती है तो दूसरी ओर गोआ निवासियों का भाषा विमोह उन्हें संकीर्ण विवादों और झगड़ों में उलझाए हुए है। गोआ के मूल निवासियों का एक बड़ा हिस्सा कोंकणी भाषी है। स्मरणीय है कि कोंकणी इंडो-आर्यन ग्रुप की दक्षिणी शाखा की भाषा है। मराठी भी इसी ग्रुप की भाषा है। फिर भी मराठी और कोंकणी बोलने वालों के आपसी सम्बन्ध अच्छे नहीं हैं। इसका जितना सम्बन्ध इन भाषाओं के संरचनात्मक विभेद से है, उससे ज़्यादा सम्बन्ध इस बात से है कि मराठी इस क्षेत्र के मराठों की भाषा है और कोंकणी सारस्वत ब्राह्मणों, दैव्यायन ब्राह्मणों और कैथलिकों की। देखने वाली बात है कि जो मराठे कोंकणी भाषी हैं वे अपने को गोमन्तक मराठी कहते हैं, महाराष्ट्रीय (मराठी) नहीं। दूसरे शब्दों में, यों कहें कि झगड़े की जड़ मराठों और गोअनीज़ जन समुदाय का स्वार्थ है। भाषाएँ झगड़े की पहचान और प्रतीक बनकर रह गई हैं। विभिन्न समुदायों को लगता है कि अगर कोंकणी या मराठी उन पर थोपी गई तो उनकी खासियत खत्म हो जाएगी। यही बात कर्नाटक राज्य में स्थित बेलगाँव के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। वहाँ के कन्नड़ भाषियों और मराठी भाषियों का झगड़ा तब से चल रहा है जब से भाषा

के आधार पर राज्यों का गठन हुआ है। शायद यह तब तक चलता रहेगा जब तक निष्पक्ष जनमत के आधार पर बेलगाँव का विभाजन नहीं हो जाएगा। स्मरणीय है कि सिर्फ गोआ और बेलगाँव में ही ऐसे झगड़े नहीं हैं। नेपाली भाषी और अन्य भाषाएँ बोलने वालों के बीच सिक्किम और दार्जिलिंग में जो झगड़े और विवाद होते रहते हैं, वे अपनी अलग पहचान को लेकर हैं। भाषाएँ उस पहचान के प्रश्न को सिर्फ तीव्र कर देती हैं, वे इनकी अभिव्यक्ति मात्र हैं, कारण नहीं। ये इस बात का संकेत हैं कि ये अन्य समुदाय विकासोन्मुख भारत में अपनी पहचान बनाए रखना चाहते हैं और अपना स्थान लाभप्रद बनाना चाहते हैं।

भाषा और समुदाय

1881 से लेकर 1991 तक की भारतीय जनगणना में लोगों से सिर्फ यह पूछा जाता रहा है कि उनकी मातृभाषा क्या है और वे दूसरी और कौन-सी भाषाएँ जानते हैं। इसके विपरीत, पीपुल ऑफ इंडिया प्रोजेक्ट में दो प्रश्नों पर ज़ोर दिया गया:

(क) आपके घर और परिवार में किस भाषा या बोली का प्रयोग किया जाता है? उसे किस लिपि में लिखा जाता है?

(ख) अपने समुदाय/उपजाति से बाहर के लोगों के सम्पर्क में रहने के लिए आप किस भाषा/बोली और लिपि का प्रयोग करते हैं?

इन प्रश्नों की अपनी अहमियत है जिसे हिन्दी-उर्दू के सन्दर्भ में समझा जा सकता है। सर्वे के अनुसार भारतीय मुसलमान आपस में सिर्फ उर्दू-बांग्ला या मलयालम में बातचीत करते हैं लेकिन दूसरे समुदाय से बातचीत के लिए वे हिन्दी या क्षेत्रीय भाषा का प्रयोग करते हैं। सिर्फ गढ़वाल क्षेत्र के मुसलमानों ने कहा है कि वे उर्दू की जगह आपसी बातचीत में भी हिन्दी या गढ़वाली का प्रयोग करते हैं। हिन्दी क्षेत्र के बाहर कच्छ के मुसलमानों ने स्वीकार किया है कि वे कच्छी में बातचीत करते हैं। यहाँ यह कहना आवश्यक नहीं है कि भाषा की संरचना की दृष्टि से हिन्दी और उर्दू में शायद ही कोई अन्तर है। अगर भिन्नता है तो वह शब्द-भण्डार के स्तर पर है, व्याकरण की नहीं है। हाँ, लिपि का अन्तर तो है ही। यह बात महत्व की है कि मुसलमान समुदाय आम तौर पर फारसी-अरबी लिपि का प्रयोग करता है और हिन्दू समुदाय देवनागरी लिपि का। इसी अन्तर को भाषाई अन्तर मान लिया गया है जिसे अधिकांश मुसलमान अपनी पहचान के लिए एक आवश्यक अन्तर मानते हैं। इस मामले में सन्थाली की बात देखी जा सकती है जो ऑस्ट्रो-एशियाटिक परिवार की मुण्डा शाखा की भाषा है। इसे सन्थाली जनजाति के लोग मातृभाषा के रूप में बिहार, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, असम और त्रिपुरा के कुछ क्षेत्र में बोलते हैं। बिहारी सन्थाली इसे देवनागरी लिपि में लिखते हैं, बंगाली सन्थाली बांग्ला लिपि में और उड़ीसा के सन्थाली ओड़िया लिपि में, कुछ इसाई सन्थाली इसे रोमन लिपि में लिखते हैं और कुछ कट्टरपंथी सन्थाली अपनी अलग लिपि में। इस लिप्यान्तर का भाषा पर कोई असर नहीं है, सन्थाली भाषा एक ही समझी जाती है। इसकी वजह यह है कि सन्थालियों की अपनी अलग जनजातीय पहचान है जो लिपि पर निर्भर नहीं है। उनका

रुझान विभिन्न राज्यों में फैले सन्थालियों को एक सूत्र में करने की ओर है जिसमें सन्थाली भाषा सहायक है चाहे वह किसी भी लिपि में लिखी जाए।

पीपुल ऑफ इंडिया प्रोजेक्ट के अनुसार भारत में 4,635 नृजातीय (Ethnographic) समुदाय हैं जिनमें से 4,536 समुदायों के बारे में तथ्य इकट्ठे किए गए हैं। इनमें से 2,209 समुदायों को मुख्य समुदाय की संज्ञा दी गई है, 586 समुदायों को 'खण्ड' (सेग्मेंट) माना गया है और 1,840 को क्षेत्रीय इकाई के रूप में देखा गया है। सर्वे के अनुसार सिर्फ 325 भाषाएँ ऐसी हैं जिन्हें मातृभाषा या पारिवारिक भाषा के रूप में बोला जाता है। उनमें 96 भाषाएँ ऐसी हैं जिनका प्रयोग द्विभाषी या बहुभाषी समाज द्वारा किया जाता है। इसके अलावा जो बोलियाँ हैं, उन्हें मातृभाषा के रूप में बोलने वाले भी किसी भाषा विशेष की उपभाषा या बोली मानते हैं। अगर हम सर्वे के आँकड़ों की तुलना 1961 की जनगणना में एकत्र भाषा सम्बन्धी आँकड़ों से करें तो पाएँगे कि भारत में शायद ही कोई भाषा लुप्त हुई है। 1981 की जनगणना भी इस बात की पुष्टि करती है। इस जनगणना के अनुसार हिन्दी बोलने वालों की संख्या 38 प्रतिशत से बढ़कर 42.88 प्रतिशत हो गई है जो खासकर हिन्दी के दूसरी भाषा के रूप में बढ़ते प्रयोग के कारण हुआ है। हिन्दी द्विभाषियों की संख्या 1,76,20,783 से बढ़कर 4,44,02,182 हो गई है जिसमें 17.14 प्रतिशत लोग ऐसे हैं जिनकी मातृभाषा मलयालम है। 9.69 प्रतिशत तमिलभाषी, 6.81 प्रतिशत तेलगुभाषी और 6 प्रतिशत कन्नड़भाषी हिन्दी को दूसरी या अन्य भाषा के रूप में प्रयोग में लाते हैं। अण्डमान के निवासियों ने तो अपनी अलग हिन्दी बना ली है जिसे 'अण्डमानी हिन्दी' कहते हैं।

ऊपर कही बातों से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि कुछ समुदाय भाषा और बोलियों का प्रयोग अपने आपको एक सूत्र में पिरोने के लिए करते हैं और साथ ही, दूसरे समुदायों से अपने को अलग रखने एवं अपनी अलग पहचान बनाए रखने के लिए भी। ऐसा नहीं है कि भारत में भाषाई झगड़े नहीं होते लेकिन आम तौर पर भारतीयों में भाषा के प्रश्न पर असीम सहिष्णुता है जिस कारण सभी भाषाएँ जीवन्त हैं और द्विभाषियों की संख्या बढ़ती जा रही है। नतीजतन, एक ओर भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में उल्लेखित भाषाओं को बोलने वालों की संख्या बढ़ रही है तो दूसरी ओर उन क्षेत्रीय भाषाओं और बोलियों में भी सृजनात्मक कार्य हो रहा है जो अब तक मौखिक परम्परा पर निर्भर थीं। यही हमारे बहुभाषी समाज की सबसे बड़ी दौलत है। हमें इन विरोधाभासी लगने वाली प्रवृत्तियों से घबराने की बजाय उन्हें समझने की कोशिश करनी चाहिए और उनके प्रति स्वस्थ रवैया अपनाना चाहिए।

सन्दर्भ

- पी बन्धोपद्याय व रमाकान्त अग्निहोत्री, 2000, "भारतीय भाषाएँ: विकासशील समाज में पहचान का माध्यम", *भाषा: बहुभाषिकता और हिंदी*, दिल्ली: शिलालेख।
- कुमार सुरेश सिंह व एस. मनोहरन, 1993, "लैंग्वेज एंड स्क्रिप्ट्स", *पीपुल ऑफ इंडिया*, खंड नौ, पृ. 267।